THE TIMES OF INDIA

Date: 17-09-24

Gash In The Mountain

Aravalis to Goa, govts seem determined to ignore the Wayanad lesson.

TOI Editorials

Even if we take Haryana authorities at their word, their desertion of the environment is inexcusable. They say it was because of a communication gap that even as one department was notifying the Rajawas Aravali tracts in Mahendergarh as 'protected forest', another auctioned off one-fourth of this land for mining. This is far from an isolated flub. The Supreme Court and other institutions' efforts to preserve the mountain range have been resisted by successive state govts. When mining and real estate lobbies get a friendlier hearing than Nature, a select sliver rakes in profits, and large populations end up paying a heavy price.

Similar stories are playing out in other states too. In Goa, experts are warning that a change in land use law enabling casual conversion of "green zones" for residential and commercial construction, will lead to dangerous destruction of hill slopes, natural cover and agrarian spaces. Beneficiaries include politically influential figures, which raises doubts, as in Haryana, about how much policymakers are really aligned with genuine public interest. The devastating landslides in Wayanad served notice on what is at stake, as Goa shares the region's topography. Rampant construction in ecologically fragile zones would be a bad idea in any era; ours is haunted by climate change. If govts wilfully ignore this fact, all other conservation efforts get negated.

In Goa, lax oversight has seen mining choke the water bodies and contaminate the soil. In Haryana, reckless destruction of the landscape hasn't just violated groundwater tables locally, but sent up health and economic costs across NCR. The state's poor conservation record also puts in doubt how sincerely it will undertake compensatory afforestation for the pristine tropical jungles of Great Nicobar Island. It's no comfort that, unlike elsewhere in the world, Indian govts do not deny climate change or the importance of natural ecosystems, when their actions do.

दैनिक भास्कर

Date: 17-09-24

आम जनता की तर्क शक्ति बेहतर होती जा रही है

संपादकीय

आरोप में फंसे नेताओं या दलों को अक्सर कहते सुना जा सकता है, 'जनता की अदालत में फैसला होगा' । प्रजातंत्र में जनमत सर्वोपरि तो है, लेकिन उसका हर फैसला शाश्वत सत्य नहीं होता। इसीलिए तमाम संस्थाएं बनाई गई हैं। फिर जनमत धारणा से बनता है और धारणा निर्माण के टूल्स के रूप में नेता, उसकी भाषण- कला, उसकी नीतियां, यानी वादों पर जनता का भरोसा होता है। किसी व्यक्ति पर आपराधिक मामलों का सत्य धारणा का मोहताज नहीं होता। उसके लिए कानून, उसे अमल में लाने वाली संस्थाएं और आरोप का सत्य सिद्ध करने वाली न्यायपालिका अपना काम एक जटिल और विशेष ज्ञान की व्यवस्था के तहत करती हैं, जिसे 'अपराध न्यायशास्त्र' कहा जाता है। लिहाजा शराब घोटाले में फंसे दिल्ली के सीएम का यह दावा कि वह जनता की अदालत जाएंगे, एक गंभीर तार्किक दोष है । संविधान में ऐसी किसी भी अदालत का जिक्र नहीं आता । फिर सीएम को याद होना चाहिए कि हाल के लोकसभा चुनावों में तो उन्होंने जनता से अपील की थी कि उनकी पार्टी को जिताएं तो वह जेल जाने से बच जाएंगे, लेकिन जनता ने उन्हें सभी सातों सीटों पर हराया। तो क्या यह माना जाए कि तीन माह पहले वह जनता की अदालत से हार चुके हैं? इसी जनता ने उनकी पार्टी को विधानसभा चुनावों में जबरदस्त समर्थन दिया, लेकिन लोकसभा चुनावों में वही समर्थन नहीं मिला। सीएम जनता का कौन-सा फैसला उनकी अपराध-मुक्ति का फैसला मानेंगे? इमरजेंसी लगाने से लोग कांग्रेस और इंदिरा गांधी से नाराज थे, लिहाजा पार्टी सत्ता से बाहर हो गई, लेकिन कुछ महीनों में ही जनमत एकदम उलटा आया और कांग्रेस सत्ता में आई। तो कौन-सा सत्य जनता की अदालत का माना जाए ? नेताओं को अपने को निर्दोष बताने के लिए अच्छा तर्क देना होगा क्योंकि जनता की तर्क शक्ति बेहतर हो रही है।

दैनिक जागरण

Date: 17-09-24

जनगणना में देरी

संपादकीय

2021 में होने वाली जनगणना को लेकर ऐसे संकेत सामने आना ठीक नहीं कि उसमें न केवल देरी होगी, बल्कि वह 2027 से पहले संभव नहीं होगी। ऐसे संकेत इसलिए उभर रहे हैं, क्योंकि इस बारे में अभी कुछ स्पष्ट नहीं कि वह वस्तुतः कब शुरू होगी। जनगणना में देर होने की आशंका उभरने का एक कारण यह भी है कि इस बार बजट में उसके लिए कोई प्रविधान नहीं किया गया। अब यदि अगले बजट में उसके लिए प्रविधान किया जाता है तो 2025-26 में ही जनगणना का काम शुरू हो सकता है। जनगणना एक लंबी और जटिल प्रक्रिया है और उसके पूरा होते-होते यदि 2027 बीत जाए तो हैरानी नहीं। 2021 की जनगणना कोविड महामारी के कारण स्थगित की गई थी। यह ठीक ही था। इस भयावह महामारी से जूझते हुए जनगणना संभव नहीं थी, लेकिन उसके समाप्त होने के बाद तो वह सरकार की प्राथमिकता में शामिल होनी ही चाहिए थी। इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि महामारी के दौर में भी अनेक राज्यों में विधानसभा चुनाव कराए जाते रहे और कई अन्य बड़े आयोजन भी किए जाते रहे। यह सही है कि

लोकसभा चुनाव के आसपास जनगणना कराना संभव नहीं था, क्योंकि उसमें भी आम तौर पर उन्हीं कर्मचारियों की ड्यूटी लगती है, जो जनगणना करते हैं। समझना कठिन है कि यह क्यों नहीं सुनिश्चित किया जा सका कि 2025 में जनगणना का काम हर हाल में शुरू हो सकता।

जनगणना में देरी होने का मतलब है सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन और योजनाओं के निर्माण में 2011 के आंकड़ों से ही काम चलाने की मजबूरी। ध्यान रहे कि जनगणना के आंकड़ों का उपयोग सरकारों के साथ उद्योग जगत और शोध संस्थाएं भी करती हैं। इसके अतिरिक्त संसद, विधानसभाओं और स्थानीय निकायों के प्रतिनिधित्व का आवंटन और निर्वाचन क्षेत्रों के सीमांकन में भी जनगणना के आंकड़ों का ही इस्तेमाल किया जाता है। यदि प्रस्तावित जनगणना के आंकड़े सामने आने में देरी होती है तो फिर महिला आरक्षण लागू करने में भी विलंब हो सकता है। संसद और विधानसभाओं में 33 प्रतिशत महिला आरक्षण लागू करना तब संभव होगा, जब निर्वाचन क्षेत्रों का नए सिरे से परिसीमन होगा और परिसीमन के लिए जनगणना के अद्यतन आंकड़े चाहिए होंगे। जनगणना में देरी से उसका चक्र प्रभावित होने की भी आशंका है, क्योंकि अभी यह कहना कठिन है कि 2031 में जनगणना कराने की आवश्यकता समझी जाएगी या नहीं? निःसंदेह मौजूदा सरकार के समक्ष यह दुविधा भी होगी कि जनगणना के साथ जाति गणना कराई जाए या नहीं? जाति गणना की मांग बढ़ती चली जा रही है और पिछले दिनों तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भी उसकी आवश्यकता जता दी। सरकार का जाति गणना पर जो भी फैसला हो, यह मानकर चला जाना चाहिए कि वह ऐसे जतन अवश्य कर रही होगी, जिससे जनगणना में अधिक विलंब न होने पाए।

जनसत्ता

Date: 17-09-24

न्याय मिलने में देरी की वजहें

प्रमोद भार्गव

जिला न्यायाधीशों के राष्ट्रीय सम्मेलन के समापन अवसर पर राष्ट्रपति द्रौपदी मुर्मू ने लंबित मुकदमों और न्याय में देरी का उल्लेख करते हुए न्यायालयों को 'तारीख पर तारीख' देने और स्थगन की संस्कृति बदलने की नसीहत दी। इसके चलते अदालतों में लंबित मुकादमों की संख्या बढ़ती जाती है। प्रधान न्यायाधीश डीवाई चंद्रचूड़ ने स्पष्टीकरण दिया कि अदालतों में अठाईस फीसद जजों और सत्ताईस फीसद कर्मचारियों की कमी है। त्वरित न्याय के लिए इन कमियों को दूर करना जरूरी है। जजों की कमी कोई नई बात नहीं है, 1987 में विधि आयोग ने हर दस लाख की आबादी पर जजों की संख्या दस से बढ़ाकर पचास करने की सिफारिश की थी। फिलहाल यह संख्या सत्रह है। अब अदालतों का संस्थागत ढांचा बढ़ा है। उपभोक्ता, परिवार और किशोर न्यायालय अलग से अस्तित्व में आ गए हैं। फिर भी काम संतोषजनक नहीं है। उपभोक्ता अदालतें अपनी कार्य संस्कृति के चलते अब बोझ साबित होने लगी हैं। बावजूद इसके, औद्योगिक घरानों के वादियों के लिए अलग से वाणिज्य न्यायालय बनाने की पैरवी की जा रही है।

अलबत्ता, आज भी ब्रिटिश परंपरा के अनुसार अनेक न्यायाधीश गर्मी में छुट्टियों पर चले जाते हैं। सरकारी नौकरियों में जबसे महिलाओं को आरक्षण का प्रावधान हुआ है, तब से हर विभाग में महिला कर्मियों की संख्या बढ़ी है। उन्हें 26 सप्ताह के प्रसूति अवकाश के साथ दो बच्चों की अठारह वर्ष की उम्र तक परवरिश के लिए दो वर्ष का 'चाइल्ड केयर अवकाश' भी दिया जाता है। अदालत से लेकर अन्य सरकारी विभागों में मामलों के लंबित होने में ये अवकाश बड़ा कारण बन रहे हैं। इधर कुछ समय से लोगों में यह धारणा बनी है कि न्यायपालिका से दबाव डलवा कर विधायिका और कार्यपालिका से छोटे से छोटा काम भी कराए जा सकते हैं। इसलिए भी न्यायालयों में जनहित याचिकाएं बढ़ रही हैं, जो न्यायालय के बुनियादी कामों को प्रभावित करती हैं। जबकि प्रदूषण, यातायात, पर्यावरण और पानी जैसे मुद्दों पर अदालत की दखल के बावजूद बेहतर स्थिति नहीं बनी है।

न्यायिक सिद्धांत का तकाजा है कि सजा मिलने से पहले किसी को अपराधी न माना जाए। दूसरे, आरोप का सामना कर रहे व्यक्ति का फैसला तय समय-सीमा में हो। मगर दुर्भाग्य से हमारे यहां ऐसा संभव नहीं हो पा रहा है। इसकी एक वजह न्यायालय और न्यायाधीशों की कमी जरूर है, लेकिन यह आंशिक सत्य है। मुकदमों के लंबा खिंचने की एक वजह अदालतों की कार्य-संस्कृति भी है। सुप्रीम कोर्ट के सेवानिवृत्त न्यायमूर्ति राजेंद्रमल लोढ़ा ने कहा था कि, 'न्यायाधीश भले निर्धारित दिन ही काम करें, लेकिन अगर वे कभी छुट्टी पर जाएं, तो पूर्व सूचना अवश्य दें, ताकि उनकी जगह वैकल्पिक व्यवस्था की जा सके।' दरअसल, सभी अदालतों के न्यायाधीश बिना किसी पूर्व सूचना के आकस्मिक अवकाश पर चले जाते हैं। गोया, मामले की तारीख आगे बढ़ानी पड़ती है। उन्होंने यह भी कहा था कि 'जब अस्पताल 365 दिन चल सकते हैं तो अदालतें क्यों नहीं?' हमारे यहां अस्पताल ही नहीं, राजस्व और पुलिस विभाग के लोग भी लगभग 365 दिन काम करते हैं। किसी आपदा के समय इनका काम और बढ़ जाता है। जबकि अदालतों पर कोई परोक्ष दबाव नहीं होता है।
यही प्रवृत्ति वकीलों में भी देखी जाती है। हालांकि वकील अपने कनिष्ठ वकील से अकसर इस कमी की वैकल्पिक पूर्ति कर लेते हैं। मगर वकील जब प्रकरण का ठीक से अध्ययन नहीं कर पाते या मामले को मजबूती देने के लिए कोई दस्तावेजी साक्ष्य तलाश रहे होते हैं, तो वे बिना किसी ठोस कारण के तारीख आगे खिसकाने की अर्जी लगा देते हैं। विडंबना है कि बिना किसी ठोस पड़ताल के, न्यायाधीश इसे स्वीकार भी कर लेते हैं। तारीख बढ़ाने का आधार बेवजह हड़तालें और न्यायाधीशों तथा अधिवक्ताओं के परिजनों की मौतें भी हैं। ऐसे में श्रद्धांजलि सभा कर अदालतें कामकाज को स्थगित कर देती हैं। जबकि इनसे बचने की जरूरत है। कड़ाई बरतते हुए कठोर नियम-कायदे बनाने का अधिकतम अंतराल पंद्रह दिन से ज्यादा का न हो। अगर किसी मामले का निराकरण समय-सीमा में नहीं हो पा रहा है, तो ऐसे मामलों को विशेष प्रकरण की श्रेणी में लाकर उनका निराकरण त्वरित और लगातार सुनवाई की प्रक्रिया के अंतर्गत हो। ऐसा होता है, तो मामलों को निपटाने में तेजी आ सकती है।

ऐसी ही सोच के चलते मुख्यमंत्रियों और न्यायाधीशों के एक सम्मेलन में तत्कालीन प्रधान न्यायाधीश एचएल दत्तू ने कहा था, 'हम पूरी कोशिश करेंगे कि अदालतों में कोई भी मुकदमा पांच वर्ष से ज्यादा न खिंचे।' यह न्याय प्रक्रिया के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण था। मगर हाल ही में हमने देखा कि अजमेर की अदालत में बत्तीस साल बाद छह दोषियों को सामूहिक बलात्कार के मामले में आजीवन कारावास की सजा हुई। यानी निचली अदालत में ही एक मामले के निराकरण में बत्तीस साल लग गए। इसके आगे उच्च और सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

कई बार गवाहों की अधिक संख्या भी मामले को लंबा खींचने में मदद करती है। ग्रामीण परिवेश और बलवों से जुड़े मामलों में ऐसा अक्सर देखा जाता है। इस तरह के एक ही मामले में गवाहों की संख्या पचास तक देखी गई है। जबकि

घटना के सत्यापन के लिए दो-तीन गवाह पर्याप्त होते हैं। इसका लाभ फरियादी के बजाय अपराधी को मिलता है। इसी तरह चिकित्सा परीक्षण से संबंधित चिकित्सक को अदालत में साक्ष्य के रूप में उपस्थित होने से छूट दी जाए। फोरेंसिक विज्ञान प्रयोगशालाओं यानी एफएसएल रपट समय से न आने के कारण भी मामला लंबा खिंचता है। एफएसएल की कमी होने के कारण अब तो सामान्य रपट आने में भी एक से डेढ़ साल का समय लग जाता है। प्रयोगशालाओं में ईमानदारी न बरते जाने के कारण संदिग्ध रपटें भी आ रही हैं।

अदालतों में मुकादमों की संख्या बढ़ाने में राज्य सरकारों का रवैया भी जिम्मेवार है। वेतन विसंगतियों को लेकर एक ही प्रकृति के कई मामले ऊपर की अदालतों में विचाराधीन हैं। इनमें से अनेक तो ऐसे प्रकरण हैं, जिनमें सरकारें आदर्श और पारदर्शी नियोक्ता की शर्तें पूरी नहीं करती हैं। नतीजतन, जो वास्तविक हकदार हैं, उन्हें अदालत की शरण में जाना पड़ता है। कई कर्मचारी सेवानिवृति के बाद भी बकाए के भुगतान के लिए अदालतों में जाते हैं। जबकि इन मामलों को कार्यपालिका अपने स्तर पर निपटा सकती है। इसी तरह पंचायत पदाधिकारियों और राजस्व मामलों का निराकरण राजस्व न्यायालयों में न होने के कारण न्यायालयों में प्रकरणों की संख्या बढ़ रही है। जीवन बीमा, दुर्घटना बीमा और बिजली बिलों का विभाग स्तर पर न निपटना भी अदालतों पर बोझ बढ़ा रहे हैं। कई प्रांतों के भू-राजस्व कानून विसंगतिपूर्ण हैं। इनमें नाजायज कब्जे को वैध ठहराने के उपाय हैं। जबकि जिस व्यक्ति के पास दस्तावेजी साक्ष्य हैं, वह भटकता रहता है। इन मामलों से निजात पाई जा सकती है, मगर नौकरशाही ऐसे कानूनों को बनाए रखना चाहती है, क्योंकि इनके जरिए ही उनका रौब-रुतबा और आर्थिक हित सुनिश्चित रहते हैं।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 17-09-24

बुढ़ापे का स्वास्थ्य सुरक्षा कवच

ललित गर्ग

केंद्र सरकार ने अब सत्तर साल से ऊपर के सभी वरिष्ठ नागरिकों को 'आयुष्मान भारत' योजना में शामिल करने का निर्णय लिया है। देश के करीब साढ़े चार करोड़ परिवार के छह करोड़ बुजुर्ग इस योजना के अंतर्गत मुफ्त इलाज करा सकेंगे। दरअसल, वर्ष 2018 में शुरू हुई 'आयुष्मान भारत योजना' में अब तक केवल गरीब परिवार ही शामिल हो सकते थे, जिन्हें पांच लाख का कैशलेस कवर दिया जाता था। अब इस सार्वभौमिक स्वास्थ्य योजना का लाभ सभी बुजुर्गों को दिया जाएगा।

इस योजना से हम एक ऐसी दुनिया बना सकेंगे जहाँ हर बुजुर्ग गरिमा, आत्मसम्मान, सुरक्षा और स्वस्थता के साथ जी सकेंगे। उम्मीद की जानी चाहिए कि सरकार की नयी पहल का बेहतर तरीके से क्रियान्वयन हुआ तो यह फैसला इस आयुवर्ग के बुजुर्गों की सेहत को लेकर सुरक्षा कवच का काम करेगा। यह जरूरत इसलिए भी महसूस की जा रही थी क्योंकि आने वाले बीस वर्ष में भारत की बुजुर्ग आबादी तीन गुना होने की संभावना है। नये भारत विकसित भारत की उन्नत एवं आदर्श संरचना बिना वृद्धों की सम्मानजनक स्थिति के संभव नहीं है। वर्तमान युग की बड़ी विडम्बना एवं विसंगति है कि वृद्ध अपने ही घर की दहलीज पर सहमा सहमा खड़ा है, वृद्धों की उपेक्षा स्वस्थ एवं सुसंस्कृत परिवार परम्परा पर तो काला दाग है ही, शासन व्यवस्थाओं के लिए भी लज्जाजनक है। इस फैसले की जरूरत इसलिए थी क्योंकि सामाजिक सुरक्षा के मामले में भारत बहुत पीछे है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे 2019- 21 की रिपोर्ट से पता चलता है कि देश में ऐसे परिवारों की संख्या केवल 41 प्रतिशत हैं, जिनके कम से कम एक सदस्य का स्वास्थ्य बीमा हो बिहार, महाराष्ट्र जैसे बड़ी आबादी वाले राज्यों में तो यह राष्ट्रीय औसत के करीब आधे के बराबर है। स्वास्थ्य बीमा को लेकर यह उदासीन रवैया हमारी उस आदत की वजह से है, जिसमें ज्यादातर लोग यह सोचते हैं कि जब बीमारी आएगी तो देखा जाएगा। बहुत से लोग जीवन बीमा और स्वास्थ्य बीमा को एक ही चीज समझ लेते हैं, लेकिन जब बीमारी सिर पर आती है, तो पूरे घर के बजट को तहस नहस एवं असंतुलित कर देती है। सरकार का मौजूदा कदम कई परिवारों को ऐसे आर्थिक दुष्चक्र में फंसने से बचा सकता है भारत में इलाज दिनों दिन महंगा होता जा रहा है। जब आय के स्रोत सिमट जाते हैं और बच्चों से पर्याप्त मदद नहीं मिलती तो शरीर में रोग दस्तक देने लगते है, फिर महंगे इलाज की चिंता और कह जाती है। अकसर भारत में कर्मचारी व आम लोग सोचते हैं कि वे जीवन भर आयकर चुकाते हैं, लेकिन बुझाये में सरकार की ओर से सामाजिक सुरक्षा ना के बराबर होती है, लेकिन अब मोदी सरकार ने लोकतंत्र के सामाजिक कल्याणकारी स्वरूप को तरजीह दी है। वृद्धों को लेकर जो गंभीर समस्याएं आज पैदा हुई हैं, वह अचानक ही नहीं हुई, बल्कि उपभोक्तावादी संस्कृति तथा महानगरीय अधुनातन बोध के तहत बदलते पारिवारिक सामाजिक मूल्यों, नई पीढ़ी की सोच में परिवर्तन आने, महंगाई के बढ़ने और व्यक्ति के अपने बच्चों और पत्नी तक सीमित हो जाने की प्रवृत्ति के कारण बड़े-बूलों के लिए अनेक समस्याएं आ खड़ी हुई हैं। अब जब स्वास्थ्य बीमा का दायरा बढ़ाया गया है तो यह उम्मीद की जानी चाहिए कि खर्च को लेकर परिजनों का डर कम होगा। इस योजना का पूरा खाका सामने आना बाकी है, लेकिन यह सुनिश्चित तो करना ही होगा कि बीमा सुरक्षा कवच होने के बावजूद बुजुर्ग मुफ्त उपचार से वंचित न रह जाएं। खास तौर से सरकारी स्वास्थ्य बीमा योजनाओं को लेकर निजी अस्पतालों के रवैये को देखते हुए यह चिंता ज्यादा जरूरी हो जाती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के आंकड़ों के अनुसार भारत में औसत आयु 67 साल है। पिछले दो दशकों में ही औसत आयु में पांच बरसा से अधिक का इजाफा हो चुका है। निश्चित ही यह अच्छी ख़बर है, लेकिन इसके साथ यह चिंता भी जुड़ी हुई है कि देश में दिल से जुड़े रोगों और डायबिटीज के मरीजों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। अन्य रोग भी तेजी से बढ़ रहे हैं। अनुमान लगाया गया है कि भारत में 60 वर्ष से ज्यादा उम्र की जो आबादी वर्ष 2011 में 8.6 प्रतिशत थी, वह बढ़कर 2050 तक 19.5 फीसद हो जाएगी।

यह भी अनुमान है कि 2030 तक भारत में स्वास्थ्य देखभाल का 45 प्रतिशत खर्च बुजुर्ग मरीजों पर होगा ऐसे में बुजुर्गों के सामने अनेक अन्य समस्याओं के साथ नई एवं असाध्य बीमारियां और उनका महंगा इलाज बड़ी समस्य है। ऐसी स्थितियों में अब इस योजना का लाभ सभी बुजु को दिया जाएगा। सरकार की ओर से बताया गया है कि जो सत्तर साल से अधिक के नागरिक प्राइवेट बीमा योजना या फिर राज्य कर्मचारी बीमा योजना का लाभ ले रहे हैं, वे भी नई योजना का लाभ लेने के अधिकारी होंगे। लेकिन उन्हो इस योजना के लिये आवेदन करना होगा। अस्पतालों की भीड़ के कारण

बुजुर्गो के घर तक मोबाइल स्वास्थ्य जांच सेवा भी इस योजना में लागू हो तो सोने पर सुलगा हो सकता है। सरकार को भविष्य में वृद्धों के लिये अलग से अस्पताल संचालित करने के बारे में भी सोचना चाहिए।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 17-09-24

जीवन से खिलवाड़

संपादकीय

आत्महत्या की हर घटना झकझोर जाती है, पर जब कोई प्रतिभावान युवा अपनी जान लेता है, तो यह न केवल त्रासद, बल्कि पूरे देश-समाज के लिए नुकसानदायक बात है। बड़े दुख की बात है कि दिल्ली में मौलाना आजाद मेडिकल कॉलेज के 25 वर्षीय स्नातकोत्तर मेडिकल छात्र को उसके कमरे में मृत पाया गया। प्रथम दृष्टया, ऐसा लग रहा है कि छात्र ने फांसी लगाकर आत्महत्या की है, लेकिन पुलिस को व्यापकता में जांच करनी चाहिए और हर आशंका को परखना चाहिए। जानना जरूरी है कि आखिर एक टॉपर छात्र ऐसे मुकाम पर कैसे पहुंच गया? वह रेडियोलॉजी का द्वितीय वर्ष का छात्र था और उसे बेहतरीन विशेषज्ञ डॉक्टर बनना था। लोग यह भूले नहीं थे कि पंजाब का यह छात्र साल 2017 में राष्ट्रीय पात्रता सह प्रवेश परीक्षा (एनईईटी या नीट) का टॉपर था। उसके पिता सरकारी स्कूल के प्रिंसिपल हैं और छोटा भाई भी मेडिकल की पढ़ाई कर रहा है। जिस परिवार ने अपना होनहार खोया है, उसके साथ सबकी संवेदना होनी चाहिए।

ऐसी घटनाएं समाज को विचलित कर देती हैं। समाज विज्ञानियों और चिकित्सकों को मिलकर अध्ययन करना चाहिए। ध्यान रहे, दिल्ली में ही 27 अगस्त को ओल्ड रेजिडेंट डॉक्टर हॉस्टल में एक 20 वर्षीय मेडिकल छात्र का शव मिला था। छात्रों के बीच भी यह सवाल बार-बार उठ रहा होगा। क्या निराशा इतनी बढ़ गई है कि अपनी जीवन में पढ़ाई के झंडे गाड़ने वाले छात्रों को भी अपना भविष्य स्याह लग रहा है? इस साल फरवरी के महीने में यह आंकड़ा सामने आया था कि पिछले पांच वर्षों में कम से कम 122 मेडिकल छात्रों ने आत्महत्या की है, जिनमें से 64 एमबीबीएस में और 58 स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों अध्ययनरत थे। यह संख्या कम नहीं है। एक भावी चिकित्सक को ऊर्जा और उत्साह से भरपूर होना चाहिए, क्योंकि उसे लोगों की सेवा के लिए समर्पित होना है। उसे चिकित्सक बनने का मौका मिला है और अच्छे चिकित्सकों को लोग भगवान की तरह आदर देते हैं। सम्मानजनक जिंदगी की ओर जा रहे छात्रों के दिलोदिमाग में निराशा का एक कतरा नहीं होना चाहिए, पर हर महीने औसतन दो मेडिकल छात्र आत्महत्या कर लेते हैं?

राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग ने इस साल फरवरी में यह भी बताया था कि पांच साल में 1,270 मेडिकल छात्रों ने बीच में ही पढ़ाई छोड़ दी। एक और तथ्य गौरतलब है कि पढ़ाई छोड़ने वालों में से 153 विद्यार्थी एमबीबीएस कर रहे थे और 1,117 ने स्नातकोत्तर के दौरान पढ़ना छोड़ दिया। मतलब, विशेषज्ञ चिकित्सक बनने का मौका भी हाथ से निकलने दिया जा रहा है? क्या चिकित्सा शिक्षा का ध्यान रखने वाली जिम्मेदार संस्थाओं ने इन तथ्यों पर गहराई से गौर किया है? बेशक, छात्रों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत बढ़ती जा रही है। यह होनहार सिख छात्र भी शायद आत्महत्या न करता, अगर उसके पास संस्थान के होस्टल की सुविधा होती। वह अलग कमरा लेकर रह रहा था, तो हो सकता है, अकेलेपन की वजह से अवसाद में चला गया हो। आज छात्रों के सामने समस्याओं का अंबार है। ज्यादातर शिक्षा संस्थान छात्रों की मूलभूत सुविधाओं और मनोदशा से अंजान बने रहते हैं। ऐसे में, छात्रों को अपनी छोटी-छोटी जरूरतों को पूरा करने के साथ ही अपनी मनोदशा को भी मजबूत रखना पड़ता है। आज शिक्षा संस्थानों के लिए ही नहीं, यह सरकार और समाज के लिए भी विशेष रूप से अपने घर-परिवार से दूर अकेले रहने वाले छात्रों की फिक्र का समय है।

Date: 17-09-24

मणिपुर में असम रायफल्स को लेकर जारी आंदोलन का सच

प्रवेश लामा , (एसोशिएट एडीटर, एचटी)

मणिपुर के कांगपोकपी जिले में 22 असम रायफल्स के बटालियन मुख्यालय में सैनिकों ने रवानगी की तैयारी शुरू कर दी है। 20 सितंबर से उनकी जगह सीआरपीएफ के जवान ले लेंगे। जम्मू-कश्मीर में बढ़ती आतंकी घटनाओं के मद्देनजर केंद्र ने मणिपुर से 22 और 9 असम रायफल्स बटालियनों को वहां भेजने का आदेश दिया है। इन दोनों बटालियनों में लगभग 2,500 जवान हैं, जो अभी कांगपोकपी और चुराचांदपुर में तैनात हैं। ये दोनों पहाड़ी जिले हैं, जहां कुकी समुदाय की बहुसंख्या है। इन जवानों में से कई अपने नए मिशन को लेकर उत्साहित हैं, क्योंकि ऐसी चुनौतियों के लिए ही उनको प्रशिक्षित किया गया है। मगर एक समस्या भी है।

22 असम रायफल्स बटालियन के मुख्यालय के 'बाहर करीब 80 कुकी महिलाएं केंद्र सरकार के फैसले के खिलाफ धरने पर बैठ गई हैं। 20 सितंबर तक यह संख्या बढ़ भी सकती है, क्योंकि हर घर ने अपनी महिला को यहां भेजने का फैसला किया है। 'कम्युनिटी ऑन ट्राइबल यूनिटी' के बैनर तले महिलाओं ने एलान किया है कि वे गेट को बंद कर देंगी और सैनिकों को जाने नहीं देंगी। उनका मानना है कि असम रायफल्स के जवान ही मैतेई उग्रवादियों से उनकी रक्षा कर सकते हैं। मगर वहां से करीब 45 किलोमीटर दूर मैतेई महिलाओं की मदद से सैकड़ों छात्रों ने इंफाल के काकवा बाजार में भारत-म्यांमार मार्ग को जाम कर दिया है। वे भी धरने पर बैठे हैं, हालांकि उनकी छह मांगों में एक मांग यह है कि असम रायफल्स को मणिपुर से हटाया जाए। उनका कहना है, हिंसा अब भी इसीलिए जारी है, क्योंकि सुरक्षा बल कुकी उग्रवादियों के खिलाफ कार्रवाई नहीं कर रहा। इन प्रदर्शनकारियों के मुताबिक, मणिपुर का इतिहास इसका गवाह है कि असम रायफल्स ने हमेशा मैतेई लोगों पर अत्याचार किया है।

मणिपुर पिछली मई से जातीय हिंसा में जल रहा है। मैतेई को आदिवासी का दर्जा देने के अदालती फैसले (जिस पर रोक लगा दी गई) के खिलाफ आदिवासियों का विरोध-प्रदर्शन (कुकी के नेतृत्व में) जल्द ही दोनों समूहों के बीच जातीय संघर्ष में बदल गया। एन बीरेन सिंह सरकार के मैतेई समर्थक रुख से कोई मदद नहीं मिली और पुलिस बल व नौकरशाही में जातीय विभाजन के बाद माना यही गया कि असम रायफल्स की मौजूदगी ने ही यहां के हालात संभाले हैं। हालांकि, गुरुवार दोपहर असम रायफल्स के प्रमुख लेफ्टिनेंट जनरल विकास लखेड़ा ने प्रदर्शन कर रही महिलाओं को समझाया कि एक सैनिक के लिए आदेश-पालन अनिवार्य है और सीआरपीएफ भी उतनी ही सक्षम फोर्स है। मगर महिलाओं ने रोड खाली करने से इनकार कर दिया है। इस आशंका में कि कहीं सैनिक तय समय से पहले न चले जाएं, महिलाओं ने रात भी यहीं बिताने का फैसला किया है। वहां चाय बनाने की व्यवस्था के साथ-साथ बारिश से बचने के लिए टेंट भी लगा दिए गए हैं। इस बीच, इंफाल में भी मैतेई छात्रों ने अपनी मांगें पूरी होने तक कक्षा में न जाने की कसम खाई है, जिसके कारण सरकार को कक्षाएं व परीक्षाएं निलंबित करनी पड़ी हैं। छात्रों ने इस बाबत एक ज्ञापन भी राज्यपाल को सौंपा है और अपनी मांगें माने जाने तक प्रदर्शन जारी रखने का एलान किया है।

पिछले 16 महीनों में पहली बार असम रायफल्स को यहां से हटाया जा रहा है। कई नौकरशाह मानते हैं कि विरोध और जवाबी-विरोध की यह पटकथा महीनों पहले लिखी गई थी। उनके मुताबिक, बेशक मणिपुर में असम रायफल्स को लेकर विवाद रहे हैं, लेकिन उसको लेकर 'इससे पहले इतनी राजनीति कभी नहीं हुई थी। यह सच है कि जम्मू-कश्मीर में सैनिकों की जरूरत है, लेकिन अभी इसको वहां से भेजने का फैसला गलत साबित हो सकता है। हालांकि, असम रायफल्स के एक जवान ने नाम न छापने की शर्त पर कहा कि यही एकमात्र सुरक्षा बल है, जिसके साये तले कुकी और मैतेई मिलकर शांति बहाली के लिए काम कर रहे हैं। जब पहली बार यहां हिंसा फैली थी, तब दोनों समुदायों के 20,000 से अधिक लोगों को इसी सुरक्षा बल ने बचाया था। उसके मुताबिक, हम यहां आंतरिक सुरक्षा में लगे हुए हैं और हमारा कोई दुश्मन नहीं है। लिहाजा, यह अच्छा ही है कि हम में से कुछ जवान जम्मू-कश्मीर जा रहे हैं, क्योंकि देश की खातिर लड़ने के लिए वहां एक दुश्मन तो है।